भारतीय नागरिक शास्त्र शिक्षा में पुरानी और नई दुविधाएँ (Old and New Dilemmas in Indian Civic Education)

अमन मदान

नागरिक शिक्षा सार्वजनिक क्षेत्र में जीवन के बारे में सीखने के लिए एक स्थान का प्रतिनिधित्व करती है, हालाँकि जो घरेलू और व्यक्तिगत से कड़ाई से अलग नहीं है, अभी भी कई नए सम्बन्धों और रणनीतियों को शामिल किए हुए है। सार्वजनिक क्षेत्र में कैसे व्यवहार करना है, इसपर विभिन्न सांस्कृतिक अवस्थितियाँ (cultural positions) भी मौजूद हैं। भारतीय नागरिक शिक्षा पर पुनर्विचार करने की चुनौती दोहरी है : (क) कोई सार्वजनिक व्यवहार के विभिन्न प्रतिमानों (paradigms) की मौजूदगी के साथ कैसे व्यवहार करता है? (ख) किसी विशेष प्रतिमान के मूल सिद्धान्त क्या हैं और उन्हें कैसे समझाया जा सकता है और इसका एक सजीव अर्थ दिया जा सकता है?

स्कूल-राज्य सम्बन्धों के मूल में नागरिक शिक्षा है। यह भारतीय राज्य के तहत समाज के चरित्र और पूँजीवाद एवं आधुनिकता के साथ आए बदलावों की बुनियादी समझ को दर्शाती है। यह संघ-प्रेरित भावना से स्कूली पाठ्यचर्या के पुनर्लेखन के प्रयासों में एक महत्त्वपूर्ण मुद्दे – नैतिक पतन के सवाल – के साथ घनिष्ठता से जुड़ी हुई है। इसे सम्बोधित करने के लिए राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसन्धान एवं प्रशिक्षण परिषद् (National Council of Educational Research and Training – एनसीईआरटी) ने सामाजिक विज्ञान के अन्य क्षेत्रों की कीमत पर नागरिक शास्त्र की पाठ्यचर्या का विस्तार किया है। यह नागरिक शास्त्र ही है जिसको भारतीय शिक्षा प्रतिष्ठान का एक वर्ग सार्वजनिक नैतिकता की छूटी हुई कड़ी के साथ मुक्ति के रूप में देखता है। यही वह पृष्ठभूमि है जिसके विरुद्ध हम, नागरिक शिक्षा की सामाजिक और राजनीतिक जड़ों की मानवशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य (anthropological perspective) से जाँच-पड़ताल करना चाहते हैं।

शुरू से ही यह स्वीकार करना महत्त्वपूर्ण है कि सामाजिक अन्तर्विरोध और संघर्ष शैक्षिक प्रक्रिया के मूल को निर्मित करते हैं। भारत में, या दुनिया में कहीं भी, शिक्षा, समाज के उत्पादन और पुनरुत्पादन से मिलकर बनी होती है। किसी समाज का चरित्र शिक्षा की अपनी प्रणालियों को परिभाषित करता है और बाद वाली (शिक्षा की प्रणालियाँ) एक महत्त्वपूर्ण रणभूमि हैं जहाँ परिवर्तन की ताकतें तीखे संघर्ष में शामिल होती हैं। सामाजिक जीवन की

निरन्तर पुन:रचना जो शिक्षा के माध्यम से घटित होती है और बदलती सामाजिक संरचना, शिक्षा की संस्थाओं, इनपर हावी होने वाली विचारधाराओं, और अलग-अलग कर्ताओं को एक साथ बाँधने वाले सम्बन्धों, विशेष रूप से शक्ति या सत्ता के सम्बन्धों, के द्वारा आकार लेती है। शिक्षा में सत्ता की भूमिका को कम करके आँकने की प्रवृत्ति होती है। हालाँकि, शिक्षा क्या है इस बारे में सत्ता की प्रकृति और स्वरूप मौलिक हैं। हम यह नहीं कह रहे हैं कि शिक्षा केवल शक्ति / सत्ता पाने का एक जरिया है, बल्कि जो कुछ शिक्षा में है उसके साथ सत्ता के सम्बन्ध गहराई से गुँथे हुए हैं। यह हमेशा, लेकिन हमेशा एक कथन होता है कि व्यवहार के कुछ तरीके अन्य तरीकों की तुलना में बेहतर होते हैं।

इस प्रकार, शिक्षा प्राथमिक रूप से सांस्कृतिक शक्ति का एक प्रतीक है। उदाहरण के लिए, बोलने का एक खास तरीका उस तरीके से बेहतर है जो आपके माता-पिता ने आपको सिखाया होगा, राज्य के नियम गली के नुक्कड़, आदि पर जो आपको बताया जाता है उससे बेहतर हैं। और इन सभी प्रतिपक्षी कार्यसूचियों (counter agendas) के खिलाफ हमेशा बातचीत करनी चाहिए। भारतीय शिक्षा और समाज पर इसके प्रभाव पर पुनर्विचार के किसी भी गम्भीर प्रयास के लिए यह आवश्यक है कि शिक्षाविद् जो कहना चाहते हैं और साथ ही वे किसके खिलाफ बोल रहे हैं, इन दोनों की बारीकी से जाँच की जाए।

स्कूल में विभिन्न संस्कृतियाँ
(Different Cultures in School)

आमतौर पर स्कूल में संस्कृति की राजनीति स्वीकार नहीं की जाती है। अवधारणाओं और कौशलों के शिक्षण में समस्याओं को पारम्परिक रूप से शिक्षणशास्त्रीय प्रश्नों (pedagogic questions) के अधीन रखा गया है। यहाँ हम शिक्षा, और इसके संस्थानिकीकरण (institutionalisation) को स्कूलों के रूप में देखते हैं, एक ऐसे सांस्कृतिक राजनीति के क्षेत्र के रूप में जहाँ विभिन्न संस्कृतियाँ अन्तःक्रिया करती हैं और अपने अन्तर्विरोधों पर बातचीत करती हैं। इस सांस्कृतिक राजनीति की समझ के लिए विभिन्न इतिहासों, विचारधाराओं और उन भौतिक परिस्थितियों को देखना चाहिए जो अन्तःक्रिया करने वाली संस्कृतियों के साथ-साथ होने वाली बातचीत की शर्तों के लिए भी स्थान निर्मित करती हैं।

एक स्तर पर स्कूल में सांस्कृतिक विरोधाभास कमजोर हो जाते हैं जिन्हें दो ध्रुवों के रूप में देखा जा सकता है जिसका सबसे अर्थपूर्ण वर्णन ए के रामानुजन (A K Ramanujan 1990) द्वारा किया गया है। वह लिखते हैं कि भारत जैसी संस्कृतियाँ सन्दर्भ-संवेदनशील नियमों के अनुसार सोचने के लिए उन्मुख रहती हैं। विशेष राग विशेष समय में गाए जाते हैं; कुछ व्यंजन या पकवान कुछ खास तरीकों से खाए जाते हैं; कर्तव्यपरायण रूप से दृढ़ता का गुण क्षत्रिय का और हवा के रुख के साथ बहना वैश्य का एक गुण है। इसे सबसे स्पष्ट रूप से

वर्णाश्रम (varnashrama) और विभिन्न जातियों में समाज के विभाजन में देखा जा सकता है, प्रत्येक के अपने जीने के तरीके हैं और वह दूसरों के प्रति 'सहिष्णु या सहनशील' (tolerant) है। सन्दर्भ-मुक्त चिन्तन की प्रवृत्ति, सार्वभौमिकता के नियम भी मौजूद हैं, लेकिन यह कम महत्त्व के हैं। वैश्वीकरण, पूँजीवाद, आधुनिकता, और समकालीन उदार राज्य अपने वर्चस्व के लिए सन्दर्भ-मुक्त सार्वभौमिकता पर बहुत भरोसा करते हैं। पश्चिम में शक्तिशाली वर्चस्ववादी प्रवृत्तियाँ (hegemonic tendencies) हैं जो सार्वभौमिकतावाद (universalism) और सन्दर्भ-मुक्त नियमों का प्रचार करती रहती हैं। ये अपेक्षाकृत व्यापक रूप से उत्तर अटलांटिक के सीमान्त देशों में हैं जो उन्हें बढ़ावा देने वाली शक्तिशाली वर्चस्ववादी प्रवृत्तियों के साथ निकटता से जुड़े हैं। भारत में भी, सार्वभौमिकता का एक लम्बा इतिहास रहा है और इसकी नई जड़ें विकसित हो रही हैं। लेकिन यह सामाजिक व्यवहार के अन्य मजबूत पैटर्नों के साथ संघर्षरत है। स्कूल एक निश्चित सार्वभौमिक परम्परा की सीमा चौकी है, जिसे कई स्थानीय परम्पराओं के साथ अन्तःक्रिया करनी ही चाहिए।

जब मैं उस छोटे कस्बे में, जहाँ मैं रहता हूँ, या इसके आसपास के गाँवों में चारों ओर देखता हूँ तो ऐसा लगता है कि लोग व्यवहार के विशेषीकृत रूपों पर अधिक भरोसा करते हैं। ज्यादातर लोग जिन्हें मैं जानता हूँ एक राशन कार्ड या ड्राइविंग लाइसेन्स पाने या अपने भवन के नक्शे की स्वीकृति पाने के लिए सीधे राज्य के अधिकारियों के पास नहीं जाते हैं। वे मध्यस्थों के अपने सामाजिक नेटवर्कों के माध्यम से जाते हैं, जोकि बड़े पैमाने पर जाति, रिश्तेदारी के आधार पर निर्मित हैं और जिन्हें उनके काम और शिक्षा के द्वारा वंश-आधारित समूहों (descent-based groups) के बाहर के लोगों के साथ सम्पर्क बनाने का अवसर मिला। जब मैं किसी नए व्यक्ति से मिलता हूँ तो वे आमतौर पर मुझे यहाँ एक नए स्थानान्तरित सरकारी अधिकारी के रूप में देखने की गलती करते हैं और मेरे प्रति विनम्र होने के लिए वे अपने रास्ते से हट जाते हैं। इस क्षेत्र में कहने के लिए शायद ही कोई उद्योग है और राज्य ही यहाँ का सबसे बड़ा संस्थान है। और जैसा कि एक बार मेरे एक मित्र ने कहा था, आपको हर किसी से अच्छी तरह से बात करनी चाहिए, आप कभी नहीं जानते कि आपको कब किसकी मदद की जरूरत पड़ जाए।

फिर भी, उसी समय, व्यवहार में चले आ रहे निर्विवादित खण्डों / विभागों की मौजूदा विशिष्टताओं का विघटन हो रहा है। यह बात सभी को स्पष्ट है कि इसकी परवाह न करें कि सरकार के कानून किस चीज को प्रतिबन्धित करने की कोशिश कर रहे हैं, वास्तव में यहाँ सब कुछ सम्भव है। आप हासिल करने का क्या बन्दोबस्त कर सकते हैं यह आपके समर्थन के स्तर पर निर्भर करता है जिसे आप लामबन्द कर सकें। और उन लाभ उठाने वाले हैसियत समूहों के प्रकारों में चिह्नित अन्तर हैं जो एक बड़े भूस्वामी, एक बड़े व्यापारी, एक छोटे दुकानदार और एक भूमिहीन दलित मजदूर कहे जाने वाले के रूप में उपलब्ध हैं। यह

सब भारतीय राज्य की उदारवादी बुनियादों के बिलकुल विपरीत है जोकि कानून के शासन पर जोर देती है, साथ ही यह सीमाओं एवं अधिकारों और सभी की समानता एवं कुछ के लिए विशेष सुरक्षा को स्पष्ट रूप से व्याख्यायित करती है। आधुनिकता की सार्वभौमिकता को पूरे दिल से नहीं अपनाया गया है, और साथ ही सामाजिक व्यवहार के पुराने क्षेत्रों को धीरे-धीरे लेकिन निश्चित रूप से विच्छेदित किया जा रहा है।

नागरिक शास्त्र में विश्वास करने वाले
(Believers in Civics)

हैसियत समूह (status group) की धारणा हमारे समाज जैसे अन्य समाजों को समझने के लिए एक शक्तिशाली उपकरण प्रदान करती है। औपनिवेशिक स्कूली शिक्षा के द्वारा सृजित लिटराती* (literati) भारतीय शिक्षण संस्थानों में बदलाव की ताकतों को समझने की शुरुआत के लिए मुख्य प्रवेश बिन्दु है। सभी हैसियत समूहों की तरह ही, इसे प्रवेश के साधन के रूप में परिभाषित किया जा सकता है – इस मामले में स्कूलों और विश्वविद्यालयों के तरीकों का एक सम्पूर्ण समाजीकरण। इसने संस्थाओं और उप-संस्कृतियों का आदर किया जो अँग्रेजों द्वारा भारत में लाया गया था और जिसे राज्य द्वारा प्रचारित किया गया था। आगे चलकर भारतीय लिटराती को क्षेत्रीय और राष्ट्रीय श्रेणियों में विभेदीकृत करना सम्भावित था, बाद वाला (यानी राष्ट्रीय श्रेणी), अपने अँग्रेजी के उपयोग की वजह से, लम्बे समय तक प्रभावी समूह रहा है।

पिछले पचास वर्षों में, भारत में सत्ता और इसके संस्थागत तंत्र के चरित्र में बुनियादी परिवर्तन हो रहे हैं। लिटरातियों के राजनीतिक और नैतिक संकट सीधे तौर पर उनके सामने आ रही चुनौतियों और उनकी पोषित मान्यताओं से जुड़े हुए हैं। वह विचारधाराएँ जो भारतीय राज्य की आदर्श संरचना की व्याख्या करती और उसे न्यायसंगत ठहराती हैं, अधिक-से-अधिक मौजूद विरोधाभासी घटनाओं और उपाख्यानों (anecdotes) के साथ टकरा रही हैं।

शुरुआत में इसे औपनिवेशिक व्यवस्था का संरक्षण प्राप्त था और फिर नवस्वाधीन भारतीय राज्य ने इस लिटराती को विकसित करने में योगदान दिया और पहली बार आधुनिक मध्यम वर्गों को जन्म दिया। राज्य के सक्रिय हस्तक्षेप के माध्यम से भारत में औद्योगीकरण हुआ। इसमें नौकरशाही के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध और प्रतिगामी झटकों (kickbacks) से राज्य द्वारा एक संरक्षक के रूप में सहयोग व समर्थन के नेटवर्क का अस्तित्व उद्यमियों के

---

* **लिटराती :** ऐसे शिक्षित भारतीय लोग जो साहित्य में भी रुचि रखते थे, यही पुराना या पैदा हो रहा भारतीय मध्य वर्ग था, जिसकी भूमिका सकारात्मक व संकीर्ण दोनों ही थी। हम इसे यहाँ लिटराती नाम से पुकारेंगे। **अनु.**

उत्थान के लिए लम्बे समय तक अनिवार्य आवश्यकता थी। लाइसेन्सी राज अभी भी छिन्न-भिन्न होने से दूर है और औपनिवेशिक मॉडल से उपजे स्कूल-राज्य सम्बन्ध जारी हैं और असमानता को कई स्तरों पर जबरदस्ती खींचा जा रहा है। अपनी नियति में और अपनी हैसियत पर मध्यम वर्ग का विश्वास, कम-से-कम, देश के नैतिक नेतृत्व के रूप में बहुत हद तक अपनी हैसियत को बनाए रखने में और राज्य के पुरस्कारों के रूप में किए जाने वाले भुगतानों में अपनी हिस्सेदारी को बढ़ाने में सक्षम होने पर बहुत अधिक निर्भर करता है।

लिटरातियों का भ्रम राज्य और उसके अधीनस्थों (ancillaries) के पुराने सांस्कृतिक प्रभुत्व के क्रमिक विस्थापन के कारण है। यह भारतीय समाज को एक बुनियादी झटके की ओर ले जा रहा है क्योंकि लम्बे समय तक यह राज्य ही था जो सत्ता का एकमात्र सबसे महत्त्वपूर्ण (overriding – अध्यारोही) स्रोत था।

अर्थव्यवस्था ने अपने बूते पर विकास के पथ पर कदम रखा है। वाणिज्यिक और औद्योगिक केन्द्र विकसित हुए हैं जिन्होंने नौकरशाही द्वारा फ़ाइलों की हेराफेरी के बजाय उद्यमशीलता को एक उच्च आदर्श के रूप में देखा। राज्य अपनी वर्चस्ववादी स्थिति को खो रहा है और कॉर्पोरेट मॉडल ने धीरे-धीरे नौकरशाही के गलियारों को भी प्रभावित करना शुरू कर दिया है। जबकि 'शिक्षित' होने की एक मुहर, सफलता के लिए आवश्यक बनी हुई है, विचारधाराओं और प्रतीकों के नए समूह (sets) अब पुराने समूहों को चुनौती दे रहे हैं। इसी बीच, स्पेक्ट्रम के दूसरे छोर पर हरित क्रान्ति हुई और कृषक वर्गों ने खरीद-फरोख्त में शक्तिशाली छलाँग ली है। खासतौर पर, बड़े किसानों की लॉबी सक्रिय है और सभी राजनीतिक मंचों पर मुखर है।[1] सांस्कृतिक शक्ति के कई नए स्रोतों के विकास ने नैतिकता की ऊँची जमीन पर पुराने लिटरातियों की पकड़ को ढीला कर दिया है। पुराने प्रतीकों की नए सिरे से व्याख्या की जा रही है और नए प्रतीकों को सृजित किया जा रहा है। अँग्रेजी के वर्चस्व और बड़े शहरों के लोगों के वर्ग-दम्भ (snobbery) को चुनौती देने के लिए स्थानीय और क्षेत्रीय भाषाओं का इस्तेमाल किया जा रहा है। पुराने राष्ट्रीय कुलीनों के बौद्धिक तेवरों को धूल में मिलाने के लिए साहित्यिक मण्डलियाँ अधिक मुखर हो रही हैं।

यह कई प्रतिस्पर्धी गुटों का उदय ही है जिसने लिटरातियों की शालीनता को तबाह करने की अगुवाई की है। उनकी योग्यता, कड़ी मेहनत और तकनीकी दक्षता की आधिकारिक विचारधारा अन्य प्रगतिशील हैसियत समूहों के समक्ष उजागर हो गई है जो सत्ता में हेरफेर करने की क्षमता भी हासिल कर रहे हैं। राज्य और उन सामाजिक संगठनों के प्रकारों के बारे में परस्पर विरोधी धारणाएँ उभरी हैं जिन्हें सार्वजनिक जीवन का गठन करना चाहिए। यह लिटराती राज्य की वृद्धि के साथ शक्ति के रूप में विकसित हुआ और इस राज्य के धीरे-धीरे पीछे हटने के साथ ही यह अपने-आप को गहरे पानी में समाया हुआ या मुसीबतों में

पाता है। और उनके समय में परिवर्तन की प्रतिक्रियाओं में से एक राज्य की विचारधाराओं की प्रस्तुति को नागरिक शास्त्र की पाठ्यपुस्तक के माध्यम से मजबूत बनाने का आह्वान है।

नागरिक शास्त्र पाठ्यपुस्तक की सामाजिक और ऐतिहासिक जड़ों का रहस्योद्घाटन (Demystifying Social and Historical Roots of Schoolbook Civics)

भारत में सार्वजनिक व्यवहार की बदलती संरचनाओं को समझने के लिए यहाँ काम करने वाली बुनियादी ताकतों, संरचनाकृत (structuration) करने की प्रक्रियाओं, जैसी कि यह थीं, को गहराई से खोजना आवश्यक है। भारत में नागरिक शास्त्र ने मुख्य रूप से उस सार्वजनिक व्यवहार के विश्व दृष्टिकोण (worldview) के प्रचार के लिए कार्य किया, जोकि हमारे जैसा देश अपने नागरिकों से अपेक्षा करता था। सार्वजनिक जीवन की औपनिवेशिक विरासत से उभरने वाली सबसे महत्वपूर्ण चीजों में पहली थी, साझेदारी और सत्ता के नियंत्रण की प्राथमिक प्रणाली के रूप में प्रतिनिधिक लोकतंत्र; दूसरी, सामाजिक संगठन की प्राथमिक प्रणाली के रूप में नौकरशाही जिसके माध्यम से सार्वजनिक संस्थान कार्य करते थे; और तीसरी, आर्थिक विकास के प्राथमिक माध्यम के रूप में राज्य-समर्थित पूँजीवाद। इनमें से प्रत्येक ने नागरिक शास्त्र की पाठ्यपुस्तक के निर्माण में योगदान दिया और इसलिए इसका विश्लेषण करने और एक आलोचनात्मक दृष्टि बनाए रखने की आवश्यकता है।

स्वतंत्र भारतीय राज्य की उत्पत्ति प्रमुख रूप से हमारे पूर्ववर्ती औपनिवेशिक शासकों के बीच सार्वजनिक व्यवहार की परम्पराओं के विकास से हुई थी। कुछ संशोधनों के साथ ब्रिटिश संसदीय मॉडल का यहाँ अनुकरण करने की माँग की गई, जो उनके खुद के देश में उदार लोकतंत्र की वंशावली के उदय के परिणामस्वरूप हुआ था। फ़्रांसीसी क्रान्ति और एक औद्योगिक देश की उथल-पुथल से उत्पन्न खतरे से पूँजी और वाणिज्य के बढ़ते हितों की रक्षा के लिए इंग्लैंड में उदारवाद एक राजनीतिक रणनीति के रूप में उभरा था। इसने पूँजी और बड़ी निजी सम्पदा / जागीरों के संरक्षण के साथ लोकतांत्रिक भावनाओं के उभार को समेटने की कोशिश की। यह आजादी की भाषा तो बोलता था, लेकिन गरीबी और शोषण के खिलाफ अपनी पूरी ताकत लगाने के लिए प्रत्यक्ष रूप से अनिच्छुक था। उदार लोकतंत्र के विस्तार को मानव स्वतंत्रता के विस्तार की एक सरल प्रक्रिया के रूप में सबसे बेहतर तरीके से नहीं समझा जा सकता, बल्कि प्रतिष्ठान (establishment) के भीतर शक्तिशाली विरोध-पक्षों के निरन्तर समावेश के एक साधन के रूप में भी समझा जा सकता है।

उदार लोकतंत्र प्रतिनिधित्व की एक प्रणाली के माध्यम से काम करता है। कुछ लोगों को जनता का प्रतिनिधित्व करने के लिए चुना जाता है और यह कुलीन वर्ग ही है जो देश चलाता है। निर्णय लेने में सभी की भागीदारी की एक सच्ची प्रणाली की तुलना में उदार

लोकतंत्र वैधता निर्माण का एक उपकरण अधिक है। यह शक्तिशाली बाहरी लोगों को प्रतिष्ठानों में समावेशन की एक प्रणालीगत व्यवस्था के साथ, समाज के सबसे शक्तिशाली समूहों द्वारा नियंत्रण के माध्यम से काम करता है। इस तरह की राजनीतिक प्रणाली वाणिज्य और उद्योग के विकास के बेहद अनुकूल थी। पूँजीवाद के निरन्तर उत्थान के लिए जरूरी है कि समाज के बड़े वर्ग इसमें सहयोग की इच्छा रखते हों। इस प्रकार उदार लोकतंत्र, वंचितों को सभी लाभ देने के बावजूद, समाज के सबसे शक्तिशाली वर्गों के मौलिक वर्चस्व वाले औजार से बना हुआ है।

नागरिक शास्त्र भी, लोगों से नाम मात्र की मंजूरी का दावा करने के इसी दृष्टिकोण का अनुकरण करता है, लोगों की अपनी खुद की संस्कृतियों और आकांक्षाओं के किसी भी करीबी परीक्षण से परहेज करता है। नागरिक शास्त्र की पाठ्यपुस्तकों में स्थानीय पहलकदमियों को अविश्वास द्वारा चिह्नित किया जाता है और केवल राज्य के कार्यों की वैधता को आगे बढ़ाने की कोशिश की जाती है। इनमें लोकतंत्र के होने के तर्क की बहुत कम चर्चा होती है। बच्चों से जो कुछ सीखने की उम्मीद की जाती है, वह है चुनाव की व्यवस्था और सरकारों का गठन। संक्षेप में, वह सब जो वास्तव में किसी भी प्रबुद्ध निर्णय लेने के लिए जो कुछ भी आवश्यक है, जैसे– हितों का टकराव, प्रमुख शक्तिशाली गुटों का चरित्र और सत्ता के लिए उनका संघर्ष, उन सबको चुपचाप झाड़-बुहार कर कालीन के नीचे दबा दिया जाता है। यह एनसीईआरटी की पुरानी पाठ्यपुस्तकों के साथ इसकी नई जारी की गई पाठ्यचर्या की रूपरेखा दोनों का पैटर्न है। इस सन्दर्भ में, भाजपा (भारतीय जनता पार्टी) केवल पुरानी शासन-पद्धतियों की प्रथाओं के साथ चलती है।

आधुनिकता और तर्कसंगतता महत्त्वपूर्ण वैचारिक ताकतें थीं जिन्होंने पूँजीवाद के उदय का समर्थन किया। उन्होंने सामन्तवाद (feudalism) को उखाड़ फेंकने के लिए उपयोगी सहयोग व समर्थन दिया। विचारों के सबसे वैध तरीकों के रूप में तर्क और विज्ञान के विकास ने पुरानी सामाजिक संरचनाओं के आधारों को चुनौती दी। तर्क और अनुभववाद (empiricism) सभी वैध ज्ञान के लिए कसौटी बन गए। जो तर्क के अनुरूप या दुतरफा-पड़ताल (cross-checking) के सख्त मानकों के अनुसार सुस्पष्ट नहीं था उसको अस्वीकृत कर दिया गया। सार्वभौमिकतावाद (universalism) आधुनिकता के केन्द्र में था। विज्ञान का नियम एक समान होना चाहिए इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि यह जाँच किसने की या यह जाँच कहाँ की गई। इसी तरह, अधिकारों के सार्वभौमिक विमर्श का निरूपण उदार लोकतंत्र का एक महत्त्वपूर्ण पहलू था। अधिकारों को सत्य कहा गया और उनके विशेष सन्दर्भों की परवाह किए बिना सभी के लिए समान रूप से लागू किया गया।

सामाजिक सिद्धान्तों के इस औपचारिकीकरण (formalisation) के पीछे अमीर और शक्तिशाली लोगों के हितों की रक्षा करने की जरूरत है। उदारवाद का एक बुनियादी पहलू इसका रक्षात्मक अधिकारों पर जोर देना रहा है। विमर्श व्यक्ति के अधिकारों के संरक्षण के आसपास केन्द्रित है, न कि सत्ता के प्रभावी बँटवारे पर। इस प्रकार, सम्पत्ति का अधिकार उदार विचार का एक गढ़ है। उदार लोकतांत्रिक राज्य का एक प्राथमिक कार्य अपने नागरिकों के इन अधिकारों की रक्षा करना था। भारत में, समकालीन नागरिक शास्त्र का विरोधाभास यह रहा कि यह लोकतंत्र, स्वतंत्रता और अधिकारों को मौलिक तौर पर अलोकतांत्रिक तरीके से सिखाता है। यह सिद्धान्त चर्चा या बहस के लिए खुले नहीं हैं। बच्चों को सिखाया जाता है कि वे स्वतंत्र हैं, लेकिन उन्हें जो सिखाया जाता है उसपर आलोचना या विवाद के लिए वे स्वतंत्र नहीं हैं। और अगर कभी-कभार पाठ्यपुस्तक खुले प्रश्नों (open-ended questions) का सुझाव देती भी है, तो प्राधिकारवादी स्कूल संरचना (authoritarian school structure) यह सुनिश्चित करती है कि केवल 'सही' उत्तरों को ही पुरस्कृत किया जाए।

नौकरशाही का सामाजिक रूप में उभरना सामाजिक संगठनों में आधुनिकता और तर्क की सबसे बड़ी अभिव्यक्ति थी। और यह राज्य का नौकरशाही संगठन ही है जो नागरिक शास्त्र के शिक्षण पर हावी है (जैन एवं मदान [Jain and Madan] 1995)। बच्चों को नियमों के लम्बे समूह के पाठ पढ़ाए जाते हैं, सरकार कैसे चुनी जाती है, कैसे इसे कार्यपालिका, विधायिका और न्यायपालिका में विभाजित किया जाता है, लोक कल्याण के लिए इसकी क्या योजनाएँ हैं, इत्यादि। सामाजिक व्यवहार का नौकरशाही तरीका (bureaucratic mode) दिए गए मानदण्डों और नियमों का निष्पक्षीय कार्यान्वयन है। नौकरशाही प्रणाली की बुनियादी विशेषता है इसकी निष्पक्षता, अर्थात जो कहा जा रहा है उसे पूरे दिल से, अपने कर्तव्यों को दूषित किए बिना और अपने खुद के सम्बन्धों से प्रभावित हुए बिना निभाना है। यह वह है जो अपेक्षाकृत दोहराव वाले कार्यों को करने में सबसे बड़ी क्षमताएँ प्राप्त करने की अनुमति देता है। एक बड़े पैमाने पर उत्पादन करने वाले कारखाने में हर प्रबन्धक और कार्यकर्ता यह जानता है कि तात्कालिक कार्य पर पूरा ध्यान केन्द्रित करके और किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व के सभी व्यक्तिगत गुणों का उन्मूलन करके ही सबसे अधिक उत्पादकता प्राप्त की जा सकती है। नौकरशाही प्रणाली एक अत्यधिक जटिल समाज के विविध कोनों से संसाधनों को खींचने, उसे संसाधित करने (processed) और पुनःआवण्टित करने (reallocated) की अनुमति देती है। यह भी सामाजिक व्यवहार की एक वैसी ही प्रणाली के समान है जिसने लाखों सामान्य या सभ्य मनुष्यों को यातना शिविरों (concentration camps) में अपनी मृत्यु के लिए महाप्रयाण की अनुमति दी। और आज यह भारत में गेहूँ की अधिशेष बोरियाँ गिनने में व्यस्त है जबकि लोग भूख से मर रहे हैं।

नौकरशाही प्रणाली, आधुनिकता, पूँजीवाद और तर्क, ये सभी एक सार्वभौमिकरण की प्रवृत्ति से संचालित हैं। जहाँ स्पष्ट चिह्नितों को व्यापक अमूर्तनों (large abstractions) के साथ किसी नियम के अन्तर्गत कर दिया जाता है और उन लोगों को, जो उसके भीतर हैं, और अधिक अमूर्त सूत्रीकरणों से बाँध दिया गया है। सार्वभौमिकतावाद एक दोधारी तलवार है। उसकी एक धार से यह मानवता को उसकी विशेषताओं से, यहाँ और अभी के उत्पीड़नों से मुक्त करता है, और इसे व्यापक सामूहिकताओं के साथ जोड़ता (fuse) है। पूँजीवाद हमें सामन्ती स्वामियों के अत्याचारों से, भोजन की दुर्लभता की भयावहता से और प्रकृति के खिलाफ मानवता की लाचारी से मुक्त करता है। तर्क हमें पुरोहितों के वर्चस्व और भय के अन्धविश्वास से मुक्त करता है। नौकरशाही हमें भीड़ की अराजकता और गुटीय नेता के पक्षपात से मुक्त करती है।

उसी समय, सार्वभौमिकतावाद की दूसरी धार गहरा घाव करती है। नौकरशाही स्थानीय जरूरतों की अनदेखी करती है और सभी को सुखी रखने का सब्जबाग दिखाने की कोशिश करती है। विज्ञान का प्रभुत्व ज्ञान के किसी भी अन्य रूप का मजाक बनाता है। पूँजीवाद छोटे किसान और अकुशल कारीगरों को या तो भुखमरी में या फिर दिहाड़ी करने वाले मजदूरों की बेनाम, आत्माविहीन भीड़ में शामिल कर देता है।

सार्वभौमिकतावाद के साथ समस्या यह है कि अमूर्तता के अधिक-से-अधिक स्तरों पर जाते हुए भी यह विशेष हितों का ही प्रतिनिधित्व करना जारी रखता है। वैश्विकीकरण का अर्थ वास्तव में औद्योगिक राष्ट्रों का प्रभुत्व है। पूँजीवाद कुछ को विशेषाधिकार देता है और दूसरों के साथ भेदभाव करता है। अधिक-से-अधिक अमूर्तता की ओर संक्रमण के लिए मजबूर करने में शक्ति एक निर्णायक कारक के रूप में उभरती है। किसी वैज्ञानिक तथ्य के रूप में स्वीकृति प्राप्त करने का निर्णय न केवल विज्ञान के मानदण्डों से होता है, बल्कि इससे भी होता है कि कौन-सा वैज्ञानिक अधिक प्रभावशाली है। असमानता के नए सम्बन्धों को जन्म देने के लिए असमानता के पुराने सम्बन्धों को भंग कर दिया जाता है।

मध्यम वर्ग खुद को आधुनिक समय की सच्चाई के वाहक के रूप में देखना पसन्द करता है। वे जिस सच्चाई की बात करते हैं, वह उन सार्वभौमिक प्रवृत्तियों की है, जिनके साथ वे अतीत में जुड़े हुए थे और वही आकांक्षा लिए हुए आज की ओर अग्रसर हैं। वे अज्ञानी 'जनता' को सिखाना चाहते हैं कि कैसे जीना है, कैसे व्यवहार करना है और कैसे शासित होना है। हालाँकि, उनका प्रत्येक प्रतिष्ठान ऐतिहासिक रूप से सृजित किया गया है और अब कई प्रतिस्पर्धी विशेषताओं (competing particularities) द्वारा उसपर सवाल उठाया जा रहा है। भारत में नागरिक शास्त्र पाठ्यचर्या मुख्य रूप से वह एजेण्डा है जो राज्य की सरपरस्ती वाला मध्यम वर्ग सिखाना चाहता है। इसकी प्रकृति को बेहतर ढंग से समझने और इसके

सामने आने वाली चुनौतियों को समझने-बूझने के लिए, अब हम इसके विरोध की प्रकृति की ओर रुख करते हैं।

भारत में सार्वभौमिकतावाद और इसके समक्ष चुनौतियाँ
(Universalism in India and Challenges before it)

आदिकाल से ही भारतीय समाज में मानव की केवल तात्कालिक और विशेष चीज के बजाय किसी बड़ी चीज का हिस्सा बनने की प्रेरणा एक महत्त्वपूर्ण धारा रही है। इसकी सबसे बड़ी अभिव्यक्ति धार्मिक विचारों में हुई है। औपनिषदिक (Upanishadic) और बौद्ध परम्पराओं ने मानवता को जीवन की अनिवार्य दैनिक आवश्यकताओं से ऊपर उठकर श्रेष्ठ और अधिक कुलीन की ओर प्रवृत्त किया है। भक्ति और सूफी सन्तों ने सभी की समानता पर जोर देकर और ईश्वर प्राप्ति के कई अलग-अलग और सम्भावित तरीकों को स्थापित करके इसे और विकसित किया। हालाँकि, सार्वभौमिकतावाद राजनीतिक संगठन की तुलना में धर्म का क्षेत्र अधिक था। भारतीय राजनीति में भी कई सार्वभौमिकतावादी रुझान रहे हैं, लेकिन किसी को भी वैसा विस्तार प्राप्त नहीं हुआ है जैसा कि कई भक्ति और सूफी लेखनों में देखा जा सकता है।

सत्ता के सामाजिक संगठन में ताकतों का सुदृढ़ीकरण एक प्रमुख कारक रहा है। बड़ी शक्ति सृजित करने के लिए शक्ति संगठित करना और इसके परिणामस्वरूप अधिक असमानताएँ पैदा करना। इतिहासकारों और मानवशास्त्रियों का काम इस द्वन्द्वात्मकता को समझने की कोशिश में महत्त्वपूर्ण रहा है। एस ईसेनस्टेड के लेखन (ईसेनस्टेड और शचर [S Eisenstadt and Shachar], 1987) ने बार-बार सत्ता के केन्द्रण के लिए एक स्थान के रूप में कस्बों पर ध्यान आकर्षित किया है। शहरीकरण और विशहरीकरण (urbanization and de-urbanisation) के चक्र भी मोटे तौर पर सामाजिक शक्ति के समेकन और खण्डीकरण के चक्र रहे हैं। यह मानव सामूहिकता के एक साथ आने से उत्पन्न उत्साह (euphoria) में है कि व्यक्ति रचनात्मक ऊर्जा का सबसे बड़ा प्रवाह देखता है। शक्ति के केन्द्रण ने मानव भावना के सबसे रचनात्मक मंत्रों (creative spells) को जन्म दिया है और साथ ही खुद को नहरीकृत (channelise) करने और उसका उपयोग करने के लिए अपने सबसे बड़े प्रयास किए हैं।

हाल ही में मिशेल फूको (Michel Foucault, 1995) की कृतियों के साथ अनुशासन की धारणा अकादमिक संवाद में वापस लौटी है। इसी अनुशासन के द्वारा सेनाएँ तैयार की जाती हैं, स्कूल चलाए जाते हैं और सत्ता केन्द्रित होती है। जबकि फूको की चिन्ता उत्पीड़नों के साथ थी जोकि पश्चिमी सभ्यताओं में पैदा हुई थी, यह भी बताया जाना चाहिए कि अनुशासन सभी सभ्यताओं की कुंजी थी। यह ऊर्जा की चयनात्मक छँटाई (selective

pruning) ही है जिसके माध्यम से समाज अपने स्वयं के अनूठे पैटर्न बनाते हैं। और इसके लिए राज्य सबसे बड़ी संस्था रही है।

भारत में राज्य गठन की प्रक्रियाएँ इतिहास लेखकों (historiographers) के बीच पर्याप्त बहस का एक मुद्दा रही हैं।[2] निःसन्देह, नए रूपों का उभार समाज में बहुत बड़े तनाव और असुरक्षा की ओर ले जाने की अगुवाई करता है। बदले में आगे चलकर यह परिवर्तन की आग में ईंधन डालते हैं। यह मिथक प्रचलित है कि एक स्वर्णिम काल हुआ करता था जो अब तबाह हो गया है। 'स्वर्णिम काल' परिवर्तन के गहरे दायरे की प्रकृति को एक अनिवार्य विशेषता के रूप में प्रस्तुत करता है और इससे अन्य, गैर-स्वर्णिम काल, को वैधता की कमी के रूप में दिखाता है। व्यापक स्तर के पतन का विचार व्यक्ति को नए उभरते तरीके को सींचने की अनुमति देता है। अगर सभी भ्रष्ट हो गए हैं, तो कोई भी, बिना हाथ मैले किए कैसे जिन्दा रह सकता है? यहाँ समकालीन समय की बुराई और अनैतिक प्रकृति का वर्णन करने के लिए कलियुग की अवधारणा की लोकप्रियता को देखना दिलचस्प है। इस अवधारणा का उपयोग शुरू में पहली सहस्राब्दी ईस्वी के पूर्वार्द्ध (मध्य से पूर्व) में किया गया था जब 'निचली जातियों' और गैर-ब्राह्मणवादी व्यवस्थाओं के उदय के साथ वर्ण क्रम के लिए गम्भीर खतरे उभरे थे (आर एस शर्मा [R S Sharma] 1982)।

विडम्बना यह है कि, यह वही समय था जब राष्ट्रवादी इतिहास लेखक आत्मसम्मान की भावना पैदा करने के लिए संघर्ष कर रहे थे और इसे उन्होंने अपना 'स्वर्ण युग' माना। प्राचीन भारत की जिस छवि को उन्होंने निर्मित किया वह सन्देहास्पद रूप से उन विशेषताओं के बेहद नजदीक थी जिनका दावा ब्रिटिश औपनिवेशिक राज्य अपनी खुद की श्रेष्ठता का प्रतीक होने के लिए किया करता था। 'पारम्परिक' भारतीय राज्य को अखण्ड, एक मजबूत शासक के साथ केन्द्रीय रूप से प्रशासित इकाई कहा जाता था।

सामाजिक जीवन में अकसर यह मायने नहीं रखता कि कुछ मौजूद है या नहीं। प्राचीन भारत में उपनिवेशवादी आत्म-छवि को प्रतिबिम्बित करना अब संजीदा इतिहासकारों द्वारा स्वीकार नहीं किया जाता है। तथ्य चाहे जो भी हों, समकालीन भारत में अभी भी पहचानों का पुनर्निर्माण हो रहा है, जहाँ बहुत-से लोग स्थिरता और व्यवस्था के मिथक को अँधेरे में टटोल रहे हैं। यह कई आकार लेता है। साम्राज्यी मॉडल (imperial model) का पहले से ही उल्लेख किया जा चुका है। दूसरी चरम रूप जो स्थिरता के मिथक ले सकते हैं वह सीधे-सादे ग्रामीणों का है। लम्बे समय तक, अपरिवर्तित ग्राम गणराज्य को वास्तविक भारत के रूप में मशहूर किया गया था, जैसे मानो कि यही वास्तविक भारत था। यह 19वीं शताब्दी के अँग्रेजों की वे पीढ़ियाँ ही थीं जिनका अपना किसानी समाज औद्योगीकरण के फैलाव के साथ उधड़ गया था, उन्होंने उसे भारत में हासिल करने की कोशिश थी। बाद में, इसी को गाँधी और उनके

समर्थकों ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद के लिए उनके प्रमुख प्रतिपक्षी / प्रतिवाद (counterpoint) के रूप में उठाया। प्रतीकों के एक उदार चयन के द्वारा, जो अँग्रेजों और साथ ही प्रभुत्वशाली देशज कुलीन वर्गों दोनों की हैसियत को कम कर देता है, गाँधी एक विशाल आन्दोलन के निर्माण में सफल रहे, जिसने कम-से-कम सिद्धान्त रूप में, दोनों को अस्थिर बना देने और धीरे-धीरे गिरा देने की धमकी दी। अति प्राचीन व्यवस्था की इस खोज के समकालीन रूपों को आन्दोलनों और लेखनों में देखा जा सकता है जो स्थानीय की दमनकारी राज्य से भिन्न के रूप में सराहना करते हैं। अफसोस की बात है कि औपनिवेशिक और उत्तर-औपनिवेशिक राज्य की उनकी आलोचना की कृत्रिमता और समाज के साथ इसके सम्बन्ध सत्ता के व्यक्तिगत संस्थानों और राज्य की स्थानीय समझ के समान विश्लेषण से मेल नहीं खाते हैं। स्थानीय ने कदाचित ही कभी अपने स्वयं के विरोधाभासों के सन्दर्भ में सैद्धान्तीकरण हासिल करने की कोशिश की हो।

भारत में आधुनिकतापूर्व सत्ता संरचनाओं की प्रकृति में मार्क्सवादी इतिहासकारों और अँग्रेज इतिहासकार बर्टन स्टीन (Burton Stein) और उनके अनुयायियों के बीच विवाद विशेष रूप से अन्तर्दृष्टि के उपजाऊ स्रोत रहे हैं। सामन्तवाद के मार्क्सवादियों के सूत्रीकरण और बर्टन स्टीन के खण्डित राज्य (segmentary state) के मॉडल के बीच भिन्नताएँ, जो ब्रिटिश संरचनात्मक-कार्यात्मक (structural-functionalist) राजनीतिक मानवशास्त्र (political anthropology) के अन्तिम कार्यों से प्रेरित हैं, सम्भवतः वाद-विवाद द्वारा प्रस्तावित उग्रता से कम हो पाएँ। हमारे लिए वे महत्त्वपूर्ण बिन्दु क्या हैं जिनपर विरोधी समूह अनिच्छा के साथ सहमत हैं : कि वह भी कम-से-कम पहली सहस्राब्दी ईस्वी के उत्तरार्द्ध में, सत्ता के स्थानीय संकेन्द्रण का एक ढीला-ढाला ढाँचा (pattern – पैटर्न) था, जो नाममात्र के उच्च प्राधिकार का एक बेहद कमजोर और बहुधा प्रतीकात्मक नियंत्रण में मौजूद था। राजाओं और सम्राटों का प्रत्यक्ष शासन राजधानी से दूरी के साथ घटता जाता था और अपने साम्राज्य को नियंत्रित करने के लिए वे अपने समर्थन में क्षेत्रीय स्थानीय शासकों (regional satraps) के एक साथ आने पर अधिक निर्भर थे। बाद में भी, वापस इसी पैटर्न को उनके साथ आने वाले प्राधिकारों के साथ दोहराया जाता था जो अपेक्षाकृत स्थानीय समूहों के नेताओं के समर्थन और इसी तरह के अन्य प्रयासों से आते थे। एक आम सहमति का प्रसार और साम्राज्यी प्रतीकों का वर्चस्व काफी हद तक प्रतीकात्मक उपायों तक सीमित था। इसीलिए सामाजिक व्यवहार के सार्वभौमिक रूप से चौखटीकरण (universally framed) के निर्णायक कथन की वैधता की कमी कोई नई बात नहीं है। अपेक्षाकृत रूप से जो नया था वह सामाजिक संस्थाओं का निर्माण था जो प्राथमिक रूप से तटस्थ मानदण्डों पर संचालित हो रही थीं जैसा कि मुगल साम्राज्य और देश के किसी भी इलाके की निश्चित बस्तियों (कोटरिकाओं – pockets) में शुरुआती अवस्था की नौकरशाहियों में देखा गया था।

जब अँग्रेज भारत पहुँचे, मुगल राज्य धीरे-धीरे व्यापक नौकरशाही की ओर बढ़ रहा था, विशेष रूप से इसकी सेना और राजस्व संग्रहण प्रणाली में। अन्य स्थानों में काठियावाड़ और त्रावणकोर में भी हम नौकरशाही मानदण्डों को उभरते हुए देख सकते हैं। जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने तेजी से नए क्षेत्रों का अधिग्रहण करना शुरू किया लगभग उसी समय भारत में पूँजीवाद उन्नति की ओर था।

इन स्वदेशी सार्वभौमवादी संस्थानों को जल्द ही सामाजिक दुनिया में तार्किकता के नए मुख्य अभिकर्ता (agent) द्वारा निगल लिया गया था, जोकि निश्चित रूप से, ब्रिटिश उपनिवेशवाद और उनके संस्थान एवं मिथकीय उपक्रम थे, जिनको स्थापित करने का प्रयास किया गया। एक सामाजिक व्यवहार के रूप में तर्कसंगत नौकरशाही जिसमें स्वदेशी व आयातित दोनों शामिल हैं, और नौकरशाही के पुराने रूपों के बीच के भेद को मैक्स वेबर (Max Weber) द्वारा पितृसत्तात्मक कुलीनतंत्रवाद* (patrimonialism) की अवधारणा द्वारा अच्छी तरह से समझा गया है (गर्थ एवं मिल्स [Gerth and Mills] 1970)।

भेद का सार वहाँ से आता है जहाँ वैधता का स्रोत निहित है। पितृसत्तात्मक कुलीनतंत्रवाद का तात्पर्य एक व्यक्ति के साथ प्राधिकार की पहचान से है, और उसके साथ विभिन्न प्रकार के प्रतीक जुड़े रहते हैं। इसके विपरीत, नौकरशाही विधा अपने अधिकार को एक अमूर्त विचार से खींचती है। उदाहरण के लिए, इंग्लैण्ड में सामाजिक समूहों के पुनर्गठन की एक शृंखला के जरिए धीमी गति से हुए परिवर्तन पर विचार करें। इसने राज्य के अभिकर्ताओं को धीरे-धीरे किंग चार्ल्स प्रथम (King Charles I) के प्रति निष्ठा से बँधे रहना बन्द कर दिया, और इसके बजाय क्राउन या यहाँ तक कि राष्ट्रमण्डल के सेवक बन गए। नौकरशाही का सार है अमूर्त निष्पक्षता मापदण्डों के तहत कार्य करना, जिसे सार्वभौमिक और बाध्यकारी के रूप में ग्रहण किया जाता है।

परस्पर विरोधी राजनीतिक और संगठनात्मक संस्कृतियों पर वाद-विवाद ने कुल मिलाकर भारतीय स्कूली शिक्षा को अछूता छोड़ दिया है। निःसन्देह यह एक दुर्लभ उदाहरण है जब भारतीय राज्य के सन्दर्भ में स्कूली शिक्षा की स्थिति की आलोचनात्मक जाँच की गई, तो बहस को तार्किकता की सीमाओं और राज्य के पारम्परिक संस्थानों की सीमाओं द्वारा निरन्तर सीमित करने की कोशिशें जारी हैं। सामूहिक सामाजिक क्रिया के अन्य रूप क्या हैं जो उत्तर-औपनिवेशिक राज्य और उसके उदार, तर्कसंगत, औपचारिक कानूनी संविधान के साथ द्वन्द्वात्मक रूप से संलग्न हैं? वह कौन-सी दूसरी द्वन्द्वात्मकता है जो बातचीत का परिचित प्रतिरूप और उदार, तर्कसंगत कार्यसूची में संशोधन और विध्वंस का परिचित पैटर्न

* **पितृसत्तात्मक कुलीनतंत्रवाद (patrimonialism)** - आधुनिक नौकरशाही जो पितृसत्ता की शहंशाहियत से भरे कुलीन हैं जो आज का नौकरशाही तंत्र है। **अनु.**

सृजित करती है? अगर नागरिक शास्त्र ने अब तक प्राथमिक रूप से अपने काम को एक उदार राज्य की स्पष्ट और अन्तर्निहित पाठ्यचर्या को पढ़ाने के रूप में देखा है, तो हमारे पास निश्चित रूप से दूसरे का एक स्पष्ट सूत्रीकरण होना चाहिए जिसके खिलाफ हमें शिक्षित होना चाहिए। यदि इस प्रक्रिया में उदारवादी पाठ्यचर्या खुद सार्वभौमिक सत्य होने के अपने दावों को खो देती है और व्यापक प्रतिमानों (paradigms) के भीतर स्थित हो जाती है, तो ऐसा ही सही।

भारत के लिए नागरिक शिक्षा पर पुनर्विचार
(Rethinking Civic Education for India)

बहुलता (plurality) का अस्तित्व विभिन्न प्रकार के शैक्षिक लक्ष्यों के अस्तित्व की ओर संकेत करता है। भारत के लिए एक प्रासंगिक शिक्षा तैयार करने की समस्या, चाहे यह नागरिक शास्त्र शिक्षण के माध्यम से हो या किसी और तरीके से, एक ऐसी शिक्षा की तलाश की समस्या भी है जो बहुधा विरोधाभासी सामाजिक सिद्धान्तों को सम्बोधित कर सके।

प्रत्येक शैक्षिक प्रणाली का लक्ष्य होता है कि कुछ प्रमुख सिद्धान्तों का युवाओं द्वारा आत्मसातीकरण हो। इस प्रकार कई संस्कृतियाँ गरिमा, ईमानदारी और कड़ी मेहनत को उनकी शिक्षा के मुख्य उद्देश्य के रूप में देखेंगी। कुछ लोग धूर्त व्यापारी कुशाग्रता को एक प्रमुख लक्ष्य के रूप में देखेंगे, और कुछ के लिए, जैसा कि सत्तारूढ़ उप-संस्कृतियों में होता है, दूसरों पर अपनी खुद की सांस्कृतिक श्रेष्ठता का दावा एक बुनियादी जरूरत हो जाती है। उदारवादी चाहेंगे कि बच्चे कम-से-कम आजादी और वैयक्तिकता के प्रति प्रतिबद्धता के साथ तो बड़े हों। और बहुत ही कम उप-संस्कृतियों में, स्वतंत्र रूप से तर्कपरकता सीखने पर मजबूत जोर होगा। जैसा कि विभिन्न संस्कृतियों या किसी संस्कृति के भीतर विभिन्न स्तरों द्वारा व्यक्त किया गया है कि शिक्षा के लक्ष्य कुछ घुले-मिले हो सकते हैं, लेकिन आमतौर पर उनके बीच तीखे अन्तर्विरोध और संघर्ष भी होते हैं। बस यही उम्मीद की जा सकती है। सांस्कृतिक और शैक्षिक लक्ष्य दृढ़ता से सामाजिक सम्बन्धों और संस्कृति की राजनीति से प्रभावित होते हैं। यह उन प्रभुत्व वाली शिक्षा के अनुकूल है, जो इसे आम सहमति के एक मधुर, निर्दोष दायरे के रूप में चित्रित करती हैं। वास्तव में, यह अपने चरित्र या विषय वस्तु में अत्यधिक विविधतापूर्ण हो सकती है और इसके साथ संघर्ष हो सकते हैं, जिन्हें समाज उसी तरह से हल कर सकता है जैसे कि वह अन्य क्षेत्रों के संघर्ष को हल करता है।

नागरिक शिक्षा एक विशेष रूप से परेशान करने वाला क्षेत्र है। यह सार्वजनिक क्षेत्र में जीवन के बारे में सीखने के लिए एक स्थान का प्रतिनिधित्व करता है, मगर जो घरेलू और व्यक्तिगत के रूप में एकदम अलग नहीं है, अब भी कई नए सम्बन्धों और रणनीतियों को शामिल करता है। इस निबन्ध के शुरुआती भाग में तर्क किया गया है कि सार्वजनिक क्षेत्र में

कैसे व्यवहार किया जाए, इसपर विभिन्न संस्कृतियों के मत हैं। इस प्रकार भारतीय नागरिक शिक्षा पर पुनर्विचार करने की चुनौती दो तहों वाली है : (क) सार्वजनिक व्यवहार के विभिन्न प्रतिमानों की मौजूदगी से कोई कैसे क्रिया-व्यवहार (deal) करता है? (ख) किसी विशेष प्रतिमान के मूल सिद्धान्त क्या हैं और उन्हें कैसे समझा एवं विकसित किया जा सकता है और एक सजीव अर्थ दिया जा सकता है?

नागरिक शास्त्र को पारम्परिक साँचों, सरकारी नियमों और कानूनों की यादों से अटे पड़े राज्य के कर्तव्यनिष्ठ विषयों के निर्माण के रूप से परे देखना आवश्यक है। भारतीय राज्य के अपने दार्शनिक आधार इससे कहीं अधिक गहराई की माँग करते हैं। हमारा राज्य उदारवादी और समाजवादी सिद्धान्तों पर आधारित है और ये स्वतंत्रता और तर्क के सीखने की माँग करते हैं। वैधता के साथ यह तर्क दिया जा सकता है कि हमारे स्कूलों में जिस तरह से नागरिक शास्त्र पढ़ाया जा रहा है वह अकसर इन आदर्शों का समर्थन करने के बजाय एक स्थापित प्रणाली या संस्था की शक्ति और अधिकार को कम करके आँकने की ओर ले जाता है। इस बीच, भारत में सक्रिय दूसरी सांस्कृतिक प्रणालियाँ भी जीवन की समृद्धि को औपचारिक कानूनों के दोहराव (rote) में इसे संशोधित करने की निन्दा कर रही हैं। वे तर्क देते हैं कि सार्थक जीवन परम्पराओं, कर्तव्यों, महान आदर्शों द्वारा निर्मित होते हैं – 'कानून' की संकीर्ण दृष्टि से नहीं। वे दूसरी तरह के सिद्धान्तों और विचार प्रणालियों को थोपते हैं जिन्हें सार्वजनिक क्षेत्र में जीवन का आधार बनाया जा सकता है। इस प्रकार पारम्परिक प्रकार का नागरिक शास्त्र विभिन्न दिशाओं से हमले का शिकार हो रहा है।

तब, सार्वजनिक जीवन के लिए एक नई शिक्षा का केन्द्र बिन्दु क्या हो सकता है? यह सवाल बेहतर हो सकता है कि किसी को इस तरह के केन्द्र बिन्दु की खोज की ओर कैसे बढ़ना चाहिए। बहुलता (multiplicity) की उपस्थिति में, आमतौर पर दो तरह की प्रतिक्रियाएँ देखी जा सकती हैं। एक को पक्षधर दृष्टिकोण के रूप में परिभाषित किया जाता है और जो हर सम्भव तरीके से शेष पर अपने प्रभुत्व की स्थापना के लिए संघर्ष करता है। यह सर्वाधिक लोकप्रिय रणनीति है, लेकिन यह देखना आसान है कि कैसे यह आसानी से सर्वाधिकारवाद (totalitarianism) और फासीवाद (fascism) की अगुवाई कर सकता है। क्या यह वास्तव में प्राप्त करने योग्य है, इस सवाल को छोड़कर यहाँ एक और बुनियादी कठिनाई है। सर्वाधिकारवाद मानता है कि केवल कुछ लोगों का एक समूह ही सत्य की पूरी समझ रखता है। इस तरह की ज्ञानमीमांसीय अवस्थिति (epistemological position) को स्वीकार नहीं किया जा सकता है। दार्शनिक तटस्थतावाद (philosophical isolationism) अपने-आप में ही प्रभुत्वशाली रणनीति के संदिग्ध होने के लिए पर्याप्त आधार है।

दूसरी प्रकार की प्रतिक्रिया कई समूहों को एक बड़ी तस्वीर के विभिन्न हिस्सों के वाहक के रूप में देखती है। यह मानव संघर्ष का अधिक सटीक दृष्टिकोण प्रतीत होगा। इस तरह की बहुलतावादी सत्तामीमांसा (pluralistic ontology) तब ऐसी रणनीतियों का आह्वान करती है जिनके द्वारा विभिन्न दृष्टिकोण एक दूसरे से जुड़ सकें और सीख सकें। तर्कों की स्वीकृति और अस्वीकृति के लिए बुनियादी नियमों पर काम किया जाना चाहिए। यहाँ असहमतियों का संरक्षण महत्त्वपूर्ण है। वे सभी असहमतियाँ जो व्यवस्था को जबरन उखाड़ फेंकने की इच्छा नहीं रखतीं उन्हें फलने-फूलने या पनपने देना चाहिए। नवाचार और उन्नति असहमति का ही परिणाम हैं। इसके दमन की जरूरत सर्वाधिकारवादी व्यवस्थाओं को है, न कि लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं को।

तब एक सार्थक नागरिक पाठ्यचर्या के विकास की प्रक्रिया को लोकतांत्रिक संस्थानों के विकास की प्रक्रिया के रूप में देखा जाना चाहिए। इसके लिए इसमें विभिन्न दृष्टिकोणों को समझने के प्रयास की आवश्यकता है। संस्थागत संरचनाओं की स्थापना नौकरशाही व्यवस्था या किन्हीं छोटी विशेष समितियों की मुहर के आधार पर नहीं, बल्कि परामर्श और चर्चा के बड़े नेटवर्क के आधार पर होनी चाहिए। हमें एक ऐसी स्थिति का सामना करना पड़ रहा है जहाँ स्कूली पाठ्यपुस्तकों को राज्य के प्राधिकरण द्वारा एक विशाल जनसंख्या के सामने अच्छे और मूल्यवान ज्ञान के एक सुगठित कैप्सूल के रूप में पेश किया जाता है। इसके विपरीत, हमें लोगों से सवाल पूछने की प्रक्रिया करनी चाहिए कि वे खुद किसको अच्छा, सार्थक ज्ञान कहेंगे।

यह किसी भी रूप में कोई आसान काम नहीं है। खासकर एक असमान और स्तरीकृत समाज को तो यह और भी मुश्किल लगेगा। हमारे लोकतांत्रिक संस्थान अभी भी अपरिपक्व और नवजात (half-baked and nascent) हैं। हम अभी भी इस बात से जूझ रहे हैं कि समानता का अर्थ क्या है और निर्णय लेने की प्रक्रिया में जनता की स्वतंत्र और समान भागीदारी कैसे हो सकती है। जो लोग एक वर्ग के विचारों का प्रतिनिधित्व करने का दावा करते हैं अकसर वह केवल दिखावटी या हवाबाजी नहीं होती बल्कि यह उस वर्ग के शक्तिशाली लोगों का दृष्टिकोण होता है। एक लोकतांत्रिक समाज का महत्त्व विरोधाभासी रूप से इसकी आवश्यकताओं के समान ही होता है – यानी सत्ता की अत्यधिक न्यायसंगत साझेदारी। राज्य केवल ऐसे समाज को प्रोत्साहित करके ही आगे बढ़ सकता है। इसके अलावा यह भूमिका गैर-राजकीय कर्ताओं (actors) के नेतृत्व के लिए है, जिन्होंने सत्ता के फन्दे से समझौता नहीं किया।

एक नागरिक शास्त्र पाठ्यचर्या किसी समाज के साझा अर्थ को व्यक्त करती है, अत: केवल लोकतांत्रिक प्रक्रिया की परिणति (culmination) के माध्यम से ही निर्मित हो सकती है। इस

बीच, राज्य का अपनी पाठ्यचर्या का परिपालन करना इसके संस्थानों की शक्ति की विशेषताओं के आधार पर जारी रहेगा। जब तक कि राज्य की प्रकृति अपने-आप में बदल न जाए, इस तरह की पाठ्यचर्या को अब तक प्रभावी रही नौकरशाही की प्रणालियों द्वारा परिभाषित किया जाना जारी रहेगा। इससे हमें एक लोकतांत्रिक पाठ्यचर्या तैयार करने के संघर्ष से हतोत्साहित नहीं होना चाहिए। हमें उन मौकों की खोज और उपयोग जारी रखना चाहिए जिनमें यह निष्पादित किया जाएगा। एक लोकतांत्रिक पाठ्यचर्या की असली सार्थकता वही होगी जो इसे बनाए रखेगी। इसे (पाठ्यचर्या को) राज्य की सत्ता और नौकरशाही के आरोपण या थोपने से अपना समर्थन व सामर्थ्य नहीं हासिल करना चाहिए, बल्कि यह विभिन्न प्रकार के समुदायों से प्राप्त समर्थन से हासिल करेगा।

इस बारे में सुनिश्चित होना कि यह अलग-थलग प्रक्रिया नहीं हो सकती जो अकेले ही स्कूल पाठ्यचर्या में जगह ले ले। स्वतंत्रता बन्द, प्राधिकारवादी स्कूल प्रणालियों (authoritarian school systems) के माध्यम से नहीं सिखाई जा सकती। स्कूल के चरित्र को भी पुनर्विचार और परिवर्तन से गुजरना होगा। इसे व्यक्तिगत रूप से हर शिक्षक और साथ ही हर विद्यार्थी को भी सशक्त बनाने की आवश्यकता होगी। बस केवल लोकतांत्रिक स्कूल ही है जो लोकतांत्रिक संस्कृति को सिखा सकता है। फ़्रांसीसी क्रान्ति के इतिहास को याद करके स्वतंत्रता नहीं सीखी जा सकती। यह सीखी जा सकती है केवल विचारों और संस्थानों के उत्पीड़न के साथ जूझने से; यह सीखकर कि वर्चस्व से छुटकारा पाने का अर्थ क्या है; यह जानकर कि अगर कोई खुद की आजादी बनाए रखने की इच्छा रखता है तो इसके लिए दूसरों की स्वतंत्रता की गारण्टी देना कितना महत्त्वपूर्ण है। यह सभी कोई याद करने के काम नहीं हैं, ये सामाजिक कार्य, अभ्यास या आदत हैं, और इसे केवल लोकतंत्र के अभ्यास से ही सीखा जा सकता है। नागरिक शास्त्र पर पुनर्विचार के साथ एकरूप होना है कि शिक्षा क्या होनी चाहिए और हमारे शिक्षण संस्थानों को कैसे कार्य करना चाहिए। इसके बिना, यह सीखना और सिखाना असम्भव होगा कि हमारे सार्वजनिक जीवन को संगठित करने का सबसे अच्छा तरीका क्या होगा।

नागरिक शास्त्र का पुनर्विचार हमारे पुराने संस्थानों पर पूँजीवाद के प्रभाव और विकल्पों को उभारने के लिए संघर्ष के साथ घनिष्ठता से सरोकार रखता है। इसीलिए, यह शिक्षाविदों और विद्वानों के एक छोटे-से समूह से सम्बन्धित सीमित कार्य नहीं है। इसे एक विशाल, सभ्यतागत प्रक्रिया के तहत हमारे समाज और इसके काम करने के तरीके के पुनःआविष्कार के एक अभिन्न अंग के रूप में देखा जाना चाहिए। नागरिक शास्त्र का पुनर्विचार बड़े बाँधों पर, बड़े जमींदारों और बड़ी पूँजी के प्रभुत्व, ट्रेड यूनियनों के कामकाज के तरीकों के साथ, नगरपालिका परिषदों और पंचायतों के काम करने के तरीके के साथ, सार्वजनिक बहस के चरित्र के साथ, अलंघनीय रूप से बँधा हुआ है। यही है जो भारत में सामाजिक परिवर्तन की

विभिन्न प्रक्रियाओं से सम्बन्धित उन सभी लोगों के लिए आवश्यक है कि वे इसपर ध्यान देना शुरू करें कि स्कूल में क्या होता है और विशेष रूप से नागरिक शास्त्र की शिक्षा देने का क्या अर्थ है। वे इस बात से सहमत होंगे कि यह एक ऐसा स्थान है जो उन सभी विविध संघर्षों के साथ जुड़ता है जो रोजाना इस भूमि का चेहरा बदल रहे हैं।

पत्राचार के लिए पता :
ammanmadan@sify.com

नोट्स (Notes)

[लेखक, सुविधाएँ उपलब्ध कराने के सन्दर्भ में हर सम्भव मदद और यह आलेख लिखने का अवसर प्रदान करने के लिए, एकलव्य का धन्यवाद करना चाहेंगे जिसके साथ वे पूर्व में जुड़े थे।]

1. See, for instance, Dipankar Gupta, 1997, *Rivalry and Brotherhood: Politics in the Life of Farmers in Northern India*, Oxford University Press, New Delhi.
2. The major dimensions of the debates have been presented in the anthology Hermann Kulke (ed), 1997, *The State in India: 1000-1700*, Oxford University Press, New Delhi.

References

Eisenstadt, S N and S N Shachar (1987): *Society, Culture and Urbanisation*, Sage, Newbury.

Foucault, Michel (1995 orig 1975): *Discipline and Punish: The Birth of the Prison*, Vintage Books, New York.

Gerth H H and C Wright Mills (1970): *From Max Weber: Essays in Sociology*, Routledge and Kegan Paul, London, pp 296-99.

Jain, Manish (nd): *Evolution of Civics and Citizen in India*, unpublished manuscript.

Madan, Amman (1995): 'Nagarik Shastra ki Pustakon mein Nagrikon ki Chhavi', *Shaikshik Sandarbha*, no 5, May-June, pp 88-92.

Ramanujan, A K (1990): 'Is There an Indian Way of Thinking: An Informal Essay' in McKim Marriott (ed), *India through Hindu Categories*, Sage, New Delhi, pp 41-58.

Sharma, R S (1982): 'The Kali Age: A Period of Social Crisis' in S N Mukherjee (ed), *India: History and Thought*. Suvarnarekha, Calcutta, pp 186-203.